अङ्क-२८
जुलाई-दिसम्बर २०१६

वेदविद्या
ISSN-२२३०-८९६२

मनस्तत्त्व का उपनिषदीय विवेचन

डॉ. लक्ष्मी शुक्ला

मानव-जीवन में मन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । वह हमें शुभ-अशुभ किसी भी राह पर ले जाने में सक्षम है। यह मन (मनस्तत्त्व) क्या है, कैसा है, सूक्ष्म है कि स्थूल, भौतिक है या आध्यात्मिक, अणुमात्र है अथवा व्यापक ? इस प्रकार के प्रश्न अनादिकाल से चर्चित रहे हैं। यह तथ्य है कि मन के अध्ययन से हमें स्वयम् अपने तथा दूसरों के भी व्यवहारों, विचारों, अनुभवों एवं क्रियाकलापों आदि से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान करने में सहायता मिलती है। मन को लेकर विगत दो-ढाई सौ वर्षों में एक शास्त्र ही अस्तित्व में आया है, जिसका नाम है मनःशास्त्र या मनोविज्ञान अर्थात् मानव-मन के स्वरूप, वृत्तियों, क्रियाओं तथा दशाओं आदि से सम्बद्ध शास्त्र।

मनोविज्ञान का अँग्रेजी पर्याय है साइकोलॉजी । यह शब्द लेटिन भाषा के 'साइको' और 'लोगस' दो शब्दों से मिलकर बना है। जिसका अर्थ होता है आत्मा का विज्ञान। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग तर्कशास्त्री गोकनेलियस ने अपनी पुस्तक on the Nature and origin of the human soul में किया था। इसकी परिभाषा में परिवर्तन हुए और 'आत्मा" शब्द को उपयुक्त न समझते हुए हटाकर मन को उसका स्थानापन्न बनाया गया फिर आगे तो मन भी वैज्ञानिक अध्ययन के लिये अपेक्षित नहीं रहा ।

भारतीय-मनीषा ने पृथक् शास्त्र के रूप में मनोविज्ञान का अध्ययन कभी नहीं किया; किन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से इसका मूल वेदों एवम् उपनिषदों में ही देखा जा सकता है। प्राचीन दार्शनिक-ग्रन्थों में मन, चेतना, इन्द्रिय, शरीर एवं व्यवहार आदि से सम्बद्ध प्रभूत सामग्री विकीर्ण है। संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थों में 'मनस्' शब्द मापन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह मानव-जीवन की एक क्रिया है, जिससे व्यक्ति अपने मन, ज्ञान और सुखादि भावनाओं का मापन करता है। छान्दोग्योपनिषद् में इसे भौतिक पदार्थ स्वीकार कर अन्नमय कहा गया है।[१] यह भौतिक होते हुए भी स्थूल नहीं सूक्ष्म पदार्थ है। बृहदारण्यक-उपनिषद्[२] में इसे भौतिक आधार वाला ज्ञान का साधन अर्थात् इन्द्रिय माना गया है।

मन, चेतना आदि विषयों का अध्ययन करने वाले अनेक मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक ऋषियों के नाम उपनिषदों में उल्लिखित हैं। उनमें से कुछ निम्नाङ्कित हैं ;-

---

[१] अन्नमयं हि सोम्य मनः । छा. ६.५.४

[२] यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् – केन. उप. १.५

उद्दालक, पञ्चशील, वाडिल, शार्कराक्ष्य, इन्द्रद्युम्न, शात्यग्य, दिव्याग्नि, रैक्व, अश्वपति, कैकेय, शाट्यकम, जाबाल, अजातशत्रु, पिप्पलाद, ककन्धी, कात्यायन आदि। इनके साथ ही कतिपय स्वप्न-मीमांसकों का परिचय भी हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है। यथा- सौर्यायणी, गार्ग्य, शैव्य, सत्यकाम आदि। दार्शनिक चिन्तकों में सुकेशी भारद्वाज जैसे ऋषिगण अग्रगण्य हैं। पुनर्जन्म-मीमांसकों में वामदेव ऋषि प्रसिद्ध हुए। अनेकों परामनोवैज्ञानिकों के नाम उक्त साहित्य में प्राप्तव्य हैं जिनमें प्रमुख हैं जीतवन, शैलिनि, उदक, शौल्यायण, वर्कुवर्ष्ण्य, गर्दभीविपीत, भरद्वाज, विदग्ध शाक्ट्य इत्यादि।

मनोविज्ञान से सम्बद्ध इतने नाम इस बात को प्रमाणित कर सकते हैं कि प्रायः सभी उपनिषदों में मनस्तत्त्व-चिन्तन यत्र-तत्र विकीर्ण है। मन, इन्द्रियाँ, शरीर, चेतना, अनुभूतियाँ, संवेग, प्रत्यक्ष, स्वप्न, निद्रा, पुर्नजन्म, बुद्धि, परचित्त-ज्ञान आदि विषय इन चिन्तकों के प्रिय विषय हैं। महामुनि कपिल एवं पतञ्जलिप्रणीत साङ्ख्य एवं योगदर्शन भारतीय-मनोविज्ञान के मूलाधार हैं एवं ये सभी दर्शनों से प्राचीन भी ठहरते हैं। श्रीरिचर्ड गोर्वे[३] का कथन है कि संसार के इतिहास में पहली बार कपिल के दर्शन (साङ्ख्य) में मानव-मन की पूर्ण स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता तथा उसकी अपनी शक्तियों में पूर्ण विश्वास प्रदर्शित हुआ है। मैत्रायणी-उपनिषद् में साङ्ख्य का विकसित-स्वरूप देखा जा सकता है। उसमें तन्मात्र, गुण, प्रकृति तथा आत्मा में अन्तर की चर्चा की गयी है। प्रसिद्ध दार्शनिक कीथ का कथन है कि ऐसा शायद ही कुछ हो जिसकी चर्चा उपनिषदों में न की गयी हो। इस कथन से स्पष्ट है कि कीथ ने साङ्ख्यदर्शन का विकास उपनिषदों से स्वीकार किया है।

उपनिषदों के आधार पर हम मनस् तत्त्व से सम्बद्ध विषयों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करने का प्रयास कर सकते हैं।

चेतना – चेतना या आत्मा उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। उक्त समस्त चिन्तन सत्य, आत्मा अथवा परमात्मा के अध्ययन से सम्बद्ध है। केनोपनिषद् में कहा गया है- **यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनो मतम्**[४] अर्थात् उसका मनन मन से सम्भव नहीं है अपितु मन उसीके कारण चिन्तन कर पाता है। कठोपनिषद् इस कथन के विपरीत कहता प्रतीत होता है- **मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन**[५] अर्थात् हम आत्मज्ञान की प्राप्ति मन के माध्यम से ही कर सकते हैं। वह चितिशक्ति एक है, अनेक नहीं। वस्तुतः दोनों उक्तियों में विरोध नहीं है क्योंकि जब केनोपनिषद् कहता है - **यन्मनसा न मनुते**- उसका तात्पर्य है कि मन में अपनी कोई सामर्थ्य नहीं है, वह आत्मशक्ति के प्रकाश से संयुक्त होने पर ही कुछ चिन्तनादि कर सकता है। दूसरी ओर कठोपनिषद् की उक्ति का तात्पर्य है कि मन ज्ञान का प्रमुख माध्यम है क्योंकि यदि मन विषय से संयुक्त नहीं होता है तो ज्ञान नहीं हो पाता है। आत्मज्ञान भी मन के माध्यम से ही प्राप्त होता है। किन्तु एक सीमा पर आकर जब भौतिक मन असमर्थ हो जाता है

---

[३] मनसैवेदमवाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । कठ. २.१.११

[४] आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः निदिध्यासितव्यः । बृहदा. २.४.५

[५] न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। कठो. २.३.९-१२

तब आत्मा स्वयम् अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में विषय-इन्द्रिय-मन-बुद्धि और आत्मा सभी संयुक्त होते हैं। इनमें से एक के भी अनुपस्थित रहने पर प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता है। आत्मतत्त्व को जानना जीवन का अन्तिम ध्येय है[६] और इसे जानने में मन भी एक सशक्त माध्यम होता है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है **'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।**[७] इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों से निर्मित हैं, वे 'चेतना' तत्त्व को जानने में कैसे समर्थ हो सकती हैं ?

बृहदारण्यक-उपनिषद् में चेतना को **'ज्योतिषां ज्योतिः'**[८] कहा गया है। ज्ञान-प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऋषि का कथन है – **'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजनीयात्**[९]। जो ज्ञाता है वही यदि ज्ञेय हो जाये तो ज्ञाता कौन होगा ? उसे जानेगा कौन और कैसे ? यह एक कठिन पहेली है जिस पर प्रायः सभी उपनिषदों ने चिन्तन किया है।

चेतना की भी दो कोटियाँ हो जाती हैं। चेतना का अर्थ चरम आधिभौतिक चेतना हो सकता है जो कि अपरिवर्तनशील (और अमर) है[१०] अथवा मनोवैज्ञानिक और परिवर्तनशील चेतना भी हो सकता है जो निरन्तर लुप्त और प्रकट होती है। भारतीयदर्शन की मान्यता है कि केवल अपरिवर्तनशील अथवा परिवर्तनशील चेतना के तत्त्व अनुभव का आधार नहीं बन सकते हैं अपितु इन दोनों के मध्य आधारभूत एकत्व ही अनुभव का आधार है और उसीके अन्तर्गत विषय और विषयी, द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य में भेद किया जा सकता है। अपरिवर्तनशील चेतना अक्रियात्मक चित्-सत्ता के रूप में वर्तमान है और परिवर्तनशील चेतनावस्था अहम् और वैयक्तिकता की पूर्व कल्पना के समान है।

निरपेक्ष चेतना – प्रथम कोटि की निरपेक्ष चेतना है, इसमें चितिशक्ति से तादात्म्य रखने वाली चेतना की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित रहती है। यह चेतना सर्वगत एवं विभु है। चेतना में गहन निद्रा, स्वप्न एवं जाग्रत् तीन अवस्थायें सम्मिलित हैं। प्रगाढ़ निद्रा में पृथक्करण की कोई चेतना नहीं होती है। इसीसे निद्रा एवं मूर्च्छा में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता है, जबकि अन्य दो अवस्थाओं में अर्द्ध अथवा पूर्ण चेतना रहती है। प्रश्न उपस्थित होता है क्या निद्रा अथवा मूर्च्छा में हमारी चेतना पूर्णतः लुप्त हो जाती है ? भारतीय-विचारकों ने इसका उत्तर उपनिषद्-काल में ही ढूँढ लिया था। उन्होंने एक उदाहरण दिया कि सोकर उठने के पश्चात् व्यक्ति कहता है- मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है।[११]

---

[६] ज्योतिषां ज्योतिः। बृहदा १६.४

[७] येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्। बृहदा॰ ४.५.१५ तथा शिवसङ्कल्पसूक्त यजु. ३४.१

[८] असङ्गो ह्ययं पुरुषः । बृहदा. ४.३.१५

[९] सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम् । पात. योगसूत्र १-१० का व्यासभाष्य

[१०] आत्मनः सत्तामात्रं एवं ज्ञानकर्तृत्वं न तु व्यापृततया, यथा सवितुः सत्तामात्रं एव प्रकाशनकर्तृत्वम्। छान्दो॰ ८-१-२५ पर शाङ्करभाष्य

[११] आत्मानं रथिनं विद्धि – कठ. १-३-३ तथा १-३-४

यदि सुषुप्ति में कोई चेतना नहीं रहती है तो सुखपूर्वक अथवा कष्टपूर्वक सोने का अनुभव कैसे होता है ? इससे सिद्ध होता है कि चेतना की अविच्छिन्न धारा टूटती नहीं अपितु जन्म से मृत्यु पर्यन्त एक-सी चलती रहती है। मृत्यु के समय उसका सम्बन्ध शरीर से विच्छिन्न हो जाता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये उस पारमार्थिक चेतना के स्तर हैं, जो चेतना के स्वयं के नहीं हैं अपितु अहङ्कार द्वारा उद्भासित होते हैं।

सापेक्ष चेतना- दूसरी कोटि की चेतना का हम नित्य प्रति अनुभव करते हैं जिसके कारण हम अपनी समस्त क्रियाओं के प्रति जागरूक रहते हैं। इसे हम सामान्य-रूप से जाग्रदवस्था की मानसिक स्थिति समझते हैं, जिसके साथ इच्छित क्रियाओं की शक्ति समन्वित है। इसे मन का एक परिणाम भी माना जाता है क्योंकि जहाँ मन नहीं होता वहाँ चेतना भी नहीं होती। यह जीवन और क्रियाशक्ति का परिणाम है। इस प्रकार की चर्चाओं से उपनिषद् ग्रन्थ भरे पड़े हैं। चेतन-अवस्था में ज्ञान प्राप्त होने का तात्पर्य यह होता है कि ज्ञान उसका स्वरूप ही है, क्रिया नहीं।[१२]

मन- भारतीय औपनिषद्-साहित्य में एक रूपक प्रसिद्ध है जिसके अनुसार यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ उसमें जुते घोड़ों के समान हैं, आत्मा उस रथ का स्वामी है, बुद्धि सारथी और मन लगाम।[१३] इस रूपक के माध्यम से यह स्पष्ट है कि मन-रूपी लगाम के कसने से इन्द्रियरूपी घोड़े नियन्त्रण में रह सकते हैं। मन पर बुद्धि का शासन चलता है। शरीर-रथ के सुचारु परिचालन के लिये इन्द्रिय-मन-बुद्धि का परस्पर सामञ्जस्यपूर्वक संयोजन अत्यावश्यक है। मन दश इन्द्रियों से भिन्न ग्याहरवीं अन्तरिन्द्रिय है। कठोपनिषद्[१४] के ही एक अन्य मन्त्र में इन्द्रिय-मन-बुद्धि-आत्मा की क्रमशः उत्तरोत्तर प्रधानता प्रदर्शित की गई है। इसके अनुसार शरीर पूर्णतः भौतिक है, इन्द्रियाँ भौतिक जगत् से सम्बद्ध हैं किन्तु उनके विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सूक्ष्म हैं। मन इनसे भी सूक्ष्म है। वाजसनेयसंहिता में मनस् प्रत्यय को मानस-तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इस संहिता में मन के शरीर से बाहर जाने का वर्णन है अतः वह भौतिक इन्द्रिय नहीं है – यह सिद्ध होता है अन्यथा वह शरीर से बाहर कैसे जाता ?[१५] ऐतरेयारण्यक में मन का, और अधिक विशद विश्लेषण प्राप्त होता है। उसके दूसरे अध्याय में मानव को दूसरे प्राणियों से श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि वह भविष्य की कल्पना कर सकता है और अतीत को स्मरण रख सकता है। हमारी देह मनोवृत्तियों एवं संवेगों से सञ्चालित होती है। शरीर वही करता है, जैसा मन सोचता है। अतः भृगुवल्ली का ऋषि कहता है- मन से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं।[१६] मैत्रायणी-उपनिषद् में लिखा है- "मनुष्य मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है। काम,

[१२] कठ. १.३.१०-११
[१३] वाजसनेयीसंहिता
[१४] भृगुवल्ली १/४
[१५] मैत्रायणी-उप. ४-३०
[१६] ऐतरेय-उप. ३-२

सङ्कल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा-अश्रद्धा सब मन ही है।[१७] इस प्रकार उपनिषद्-साहित्य में इन्द्रियों पर मन की प्रधानता बताते हुए विभिन्न मानसिक दशाओं को मन का विकार कहा जाता है। ऐतरेय-उपनिषद्[१८] में भी एक स्थल पर षोडश मनोदशाओं का उल्लेख है। वे हैं- सञ्ज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जुति, स्मृति, सङ्कल्प, क्रतु, असु, काम और वश । इसी प्रकार सङ्कल्प नामक मनोदशा की प्रशंसा की गई।[१९] फिर सङ्कल्प से श्रेष्ठ चित्त कहा गया है।[२०] इतना ही नहीं उपनिषद्-साहित्य में मन के कई भागों की भी चर्चा हुई है।

यथा –

१. **दैवमन** – इसे दैव अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का स्वामी कहा गया है। आत्मा और बुद्धि तो शरीर से बाहर नहीं जा सकते अतः इन्द्रियाँ विषयों तक जाती हैं। मन ज्ञान-तन्तुओं के द्वारा उन्हें प्रेरित करता है और नियन्त्रण भी रखता है। यह सत्त्वप्रधान होता है। दैवमन का जागते समय दूर तक उदय होता है।[२१] ज्ञान के विषय पर दैवमन का पूरा योग होना चाहिये।

२. **यक्षमन-** यह कर्मेन्द्रियों का अधिकारी है। इसमें रजोगुण प्रधान होता है अतः यह गति का केन्द्र है।

३. **प्रज्ञान –** मन या बुद्धि- मन का जो भाग मस्तिष्क में रहता हुआ काम करता है, उसे प्रज्ञान अथवा बुद्धि कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो विषय प्रकाश में आया करते हैं, तर्क की कसौटी पर रखकर उनकी परख मन के इसी प्रकाशमय लोक में हुआ करती है।

४. **चेतस्-मन** – चित्त अन्तःकरण का वह भाग है जिस पर दैवमन के क्षेत्र में हुये अनुभवों और यक्षमन के क्षेत्र में होने वाले कर्मों के संस्कार अङ्कित रहते हैं। यह मस्तिष्क में ही रहते हुए अनुभूत विषयों का स्मरण करता है।

ये भाग व्यापृत या उद्बुद्ध मन के हैं अर्थात् इनकी क्रियायें आत्मा के नियन्त्रण में होती हैं।

५. **धृतिमन** - मन का पाँचवाँ भाग धृति है। यह आत्मा के बोध के अभाव में भी अनेक विषयों, इन्द्रियों तथा क्रियाओं को धारण किये रहता है। सम्भवतः इसीसे इसका नाम घृति पड़ा है। इसके तीन भाग हैं।

१. **प्रत्यग्भान** – धृतिमन के सत्त्वप्रधान होने पर जब आत्मा की आभा उसमें आपतित होती है, तब प्रत्यग्भान अथवा अहङ्कार उत्पन्न होता है। साङ्ख्यसम्मत सृष्टिव्युत्पत्ति का सिद्धान्त इससे प्रभावित प्रतीत होता है। प्रत्यग्भान आत्मिक विभूतियों का केन्द्र है।

---

[१७] छान्दो० ७.४.२

[१८] चित्तो वाव सङ्कल्पाद् भूयः – छान्दो. ७-५-१

[१९] यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति-शुक्लयजु० ३४.१

[२०] ब्रह्मबल्ली – अनुवाक ३

[२१] यदा वै चेतयतेऽथ सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति – छान्दो० ७-५-१

२. **विश्वभान** – यह ईश्वरीय विभूतियों का केन्द्र है। विश्वभान मन में सत्त्व पुरुषान्यथाख्याति प्राप्त हो जाने पर मनुष्य नितान्त प्रसन्न दिखलाई पड़ता है।

३. **वशीकरण** - नियन्त्रण की शक्ति आने पर वशीकरण होता है। वशीकरण मन की दशा वह है जबकि मन लक्ष्य–वेधन के समय से पूर्व अपने बाण को लक्ष्य की ओर बिल्कुल साध चुका होता है।

भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को आत्म-विषयक उपदेश देकर तपस्या करने हेतु आदेश दिया। एक बार तप करके भृगु ने जाना कि मन से ही पञ्चमहाभूत उत्पन्न हो रहे हैं । चेतन वस्तुएँ मन के कारण जीवित रहती हैं और अन्त में मन में ही लीन हो जाती हैं।

प्रकृति की परमाणु से भी सूक्ष्मतर अवस्था होती है महत्तत्व या महान, विचार-शक्ति। सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम मन मनोमय है । ब्रह्मवल्ली में ऋषि का कथन है कि अन्तरात्मा मनोमय है, यह प्राणमय से भिन्न है; यह मन की अवस्थाओं का समूह है।[२२] आत्मप्रकाश से परिपूर्ण होने के कारण यही आत्मा है। सूक्ष्म-शरीर मनोमय से परिपूर्ण है, इसका आकार भी स्थूल शरीर के आकार जैसा ही होता है। उत्पत्ति की प्रक्रिया में जब हृदय बना तब मन उसीसे उत्पन्न हुआ और मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई।[२३]

चित्त - छान्दोग्योपनिषद्[२४] के अनुसार चित्त अथवा साक्षी आत्मा सङ्कल्प से श्रेष्ठ है। चित्त का अस्तित्व सङ्कल्प पर संयम करता है। मनुष्य जब चिन्तन करता है तभी सङ्कल्प करता है। प्रथम स्फुरण चित्त में होता है फिर मनन करता है, तदनन्तर वाणी को प्रेरित करता है[२५]। ये सङ्कल्पादि चित्त के आश्रित हैं, चित्तरूप हैं और चित्त में प्रतिष्ठित हैं। इसी कारण जब कोई व्यक्ति अचित्त अथवा उन्मत्त हो जाता है तो उसे 'वह नहीं है' – ऐसा ही लोग जानने लगते हैं और सोचते हैं कि यदि स्मरण करता होता तो इस प्रकार चेतनारहित न होता । इसलिए चित्त ही सङ्कल्पादिकों का आश्रय है। चित्त आत्मा है। ऋषि ने नारद को चित्त की आराधना करके प्रसुप्त चेतनसत्ता को प्रबुद्ध करने का आदेश दिया है।

ध्यान - ध्यान चित्त से महान् है। पृथिवी ध्यान करती हुई सी प्रतीत होती है। अन्तरिक्ष ध्यान कर रहा है और सौरलोक मानो ध्यान कर रहा है । प्रकृति का सारा विकास सृष्टिकर्त्ता के नियम में नियत रूप से निश्चल है। उपनिषद्[२६] कहते हैं – वह जो ध्यान को महान् जानकर ब्रह्मोपासना करता है, जहाँ तक ध्यान की गति है, वहाँ तक उसका स्वच्छन्द सञ्चार होता है । ध्यान करके हम आत्मतत्त्व को जान

---

[२२] चन्द्रमा मनसो जातः-पुरुषसूक्त

[२३] छान्दो ७.५.२

[२४] छान्दो ७.६.१२

[२५] बृहदा. १.४.१९

[२६] नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्। कठो. १.२.२४

सकते हैं। इसी कारण कहा गया है कि **"मनसैवानुद्रष्टव्यम्"** । "बृहदारण्यक" [२७] के अनुसार तीन वस्तुएँ आत्माधीन होनी चाहिये – मनस्, वाणी और प्राण । यदि हमारा ध्यान कहीं अन्यत्र है तो हम देखते हुए भी नहीं देखते हैं- सुनते हुए भी नहीं सुनते हैं। कठोपनिषद्[२८] में यह बात कही गयी है कि व्यक्ति अपने आत्मा को नहीं जान सकता जब तक कि उसका मन (ध्यान) स्थिर न हो । जो व्यक्ति अशान्त, चञ्चल और अस्थिर मन का होता है वह जागतिक वस्तुओं को ही नहीं जान पाता है। आत्मज्ञान के लिये तो उससे भी बहुत गहरे ध्यान की आवश्यकता होती है।

उपासक अपने मन को परमात्मा के प्रकाशमय-स्वरूप में संयुक्त करते हैं- अपनी इन्द्रियाँ, मन, सब कुछ उसी के ध्यान में लगा देते हैं।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महीं देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥[२९]

श्वेताश्वतर- उपनिषद् में ध्यान को बड़े अच्छे उदाहरण से समझाया है; जिसके अनुसार यदि उपासक अपने शरीर को नीचे की अरणि के रूप में कल्पना करे और प्रणव को ऊपर की अरणि माने, फिर ध्यानरूपी निर्मथन का अभ्यास करके काष्ठ में छिपी अग्नि के समान परमेश्वर को देखे।[३०] जैसे तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि रहती है; वैसे ही आत्मा में परमात्मा का वास है जिसे अन्तर्मुख ध्यान से जाना जाता है[३१]। शिवसङ्कल्पसूक्त में अवधान के अभ्यास हेतु उपाय भी बताया गया है। ध्यान की गहराइयों में साधक के उतर जाने के बाद समाधि की स्थिति बनती है। श्रुति का कथन है कि शान्त और वैरागी ज्ञानार्थी समाधि के द्वारा आत्मा में आत्मा को देखता है।[३२]

मन की अवस्थायें – जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति- माण्डूक्य-उपनिषद् में एक जगह ऊँकार का अर्थ समझाते हुए उसकी जाग्रत्-स्वप्न एवं सुषप्ति की अवस्थाओं से तुलना की गयी है। ऊँकार में अ-उ-म् में इन तीन अक्षरों का संयोग होता है। इसमें अकार को जाग्रत् अवस्था – वैश्वानर बताया गया है- यह अकार प्रथम पाद – प्रथम मात्रा है जो सर्वत्र सुलभ है।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथम मात्राऽऽ परादि मत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद॥[३३]

---

[२७] युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महीं देवस्य परिष्टुतिः॥ श्वेता० २.४
[२८] श्वेता. २.१४
[२९] श्वेता. २.१५
[३०] श्वेता. २.४
[३१] माण्डूक्य उप. ९- जागरितस्थानो.....
[३२] योगवासिष्ठ १२४-३६-३८
[३३] माण्डूक्य० १० स्थान तैजस.....

आधुनिक मनोविज्ञान में इन अवस्थाओं की चर्चा हुई है विशेषकर स्वप्न की। फ्रायड ने स्वप्नों को मनुष्य के अवचेतन मन में निहित अवदमित इच्छाओं की पूर्ति करने वाला बताया है। भारतीयदर्शनों में विशेषकर योगवासिष्ठ आदि में इनका पर्याप्त अध्ययन हुआ है। आत्मचित्त घोर-शान्त-मूढ़भेद से तीन प्रकार का कहा गया है।[३४] घोर जाग्रन्मय है; मुमुक्षु की दृष्टि से जाग्रत् को मिथ्या होने के कारण घोर कहा जा सकता है। जाग्रदवस्था में मन की प्रधानता एवं सङ्कल्प की प्रमुखता पायी जाती है। मन संसार से अत्यन्त सम्बद्ध है, अतः जाग्रत्-अवस्था को मन की भूमि मानना अनुचित नहीं होगा।

स्वप्न – ऊँकार की व्याख्या करते हुए माण्डूक्योपनिषद् में स्वप्नावस्था और तेजस् से उकार की तुलना की है जो कि द्वितीय मात्रा है –

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति।[३५] स्वप्नमय चित्त को शान्त कहा गया है। जब इस संसार की वेदना-ज्वालायें निर्वापित होने लगती हैं तब स्वप्नावस्था होती है, अतः वह शान्त है। स्वप्न का निर्माण स्मृति-विशेष से ही होता है और चित्त संस्कार-भूमि है - अतः स्वप्न में चित्त की प्रधानता है। भारतीय विचारधारा में स्वप्न की घटना जीवात्मा की स्वतन्त्र रचना नहीं है, वह तो निमित्त मात्र है। वास्तव में सब कुछ जीव के कर्मानुसार उसकी शक्ति से ही होता है।

सुषुप्ति – जब बुद्धि और मन सुषुप्ति के कारण अभिभूत होते हैं, तब उनके बिना अहङ्कार वासनाओं का ज्ञान नहीं कर सकता है। अतः, अहङ्कार की दृष्टि से सुषुप्ति मूढ़ावस्था है। सुषुप्ति में स्वप्न-दृश्य का अभाव हो जाता है।[३६] उस समय जीवात्मा को संसाररूपी प्रपञ्च के उपभोग से विश्राम मिलता है तथा शरीर और इन्द्रियों की थकावट दूर हो जाती है। इस अवस्था में जीवात्मा की स्थिति कैसी है ? तथा जीवात्मा कहाँ रहता है ? इस विषय में श्रुति कहती है - 'जब जीव सुषुप्ति-अवस्था को प्राप्त होता है तब कुछ भी नहीं जानता । इसके शरीर में जो ७२००० बहत्तर हजार हिता नाम की नाड़ियाँ हृदय से निकलकर समस्त शरीर में व्याप्त हो रही हैं, उनमें फैलकर यह समस्त शरीर में व्याप्त हुआ शयन करता है।[३७] अन्य उपनिषदों में ऐसा भी कहा गया है कि जब वह शयन करता हुआ किसी तरह का स्वप्न नहीं देखता और सब प्रकार से सुखी होकर नाड़ियों में व्याप्त हो जाता है, उस समय उसे कोई पाप स्पर्श नहीं कर सकते। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय अनजाने में जीव के शरीर की किसी क्रिया द्वारा किसी जीव की हिंसादि पापकर्म हो जाये, तो वह उसे नहीं लगता तथा कहीं ऐसा भी कहा है कि उस सुषुप्ति के समय पुरुष सत् से सम्पन्न होता है।[३८] एक स्थान पर ऐसा वर्णन आया है कि उस समय परमात्मा के

---

[३४] तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च – बृहदा. ३-२-७

[३५] वही २.१.१९

[३६] छान्दो. ८.६.३

[३७] वही ६.८.१

[३८] बृहदा. ४.३.२१

स्पर्श को प्राप्त हुआ यह जीवात्मा न तो बाहर की किसी वस्तु को जानता है और न शरीर के भीतर की ही किसी वस्तु को जान पाता है।[३९] माण्डूक्य-उपनिषद् के अनुसार यह ऊँकार की तीसरी मात्रा मकार है- **सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तु तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद।**[४०]

मानव के सारे कार्य सुखप्राप्ति के लिये होते हैं- यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सुख की इच्छा को पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिक भी एक मूलप्रवृत्ति के रूप में मानते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् गैस्टाल्ट के अनुसार 'अतीन्द्रिय सुख की इच्छा' मनुष्य की प्रधान मूलप्रवृत्ति है किन्तु मनुष्य उस सुख की प्राप्ति का साधन नहीं जानता है और अन्य प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि करके उस अलौकिक सुख को ढूँढता है। वस्तुतः यह कथन भ्रान्त है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर महान् सुख और उसकी प्राप्ति के साधन वर्णित हैं। छान्दोग्य-उपनिषद्[४१] में महान्तम और परम सुख को भूमा कहा है; यही वास्तविक सुख है। अल्प में (इन्द्रियजन्य सांसारिक सुखों में) सुख नहीं है। यह भूमा वह अवस्था है, जिसमें आत्मा अन्य वस्तु को नहीं देखता; अन्य शब्द को नहीं सुनता और अन्य पदार्थ को नहीं जानता है। यह निरपेक्ष आत्मपद जिसमें वह अपनी महिमा में स्थिर होता है; भूमा कहलाता है। अन्य समस्त सुख अल्प और नाशवान् हैं। ऐसे ही अनेक विषय उपनिषद्-साहित्य में भरे पडे हैं। सभी विषयों का विशद विश्लेषण करने के लिए एक स्वतन्त्र पुस्तक की अपेक्षा है। यहाँ तो उपनिषदों के मनस्तत्त्व-विवेचन का सङ्क्षिप्त दिग्दर्शन कराके शोधार्थियों एवं जिज्ञासुओं के लिए एक सङ्केत भर दे दिये हैं।

डॉ. लक्ष्मी शुक्ला
सी-८९, गोविन्दपुरी, ग्वालियर

---

[३९] माण्डूक्य ११ सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा ०
[४०] यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम् । छान्दो० ७.२३-२४
[४१] छान्दोग्योपनिषद्, ७.२३-२४